जैन दर्शन और ईश्वर की परिकल्पना

□डॉ० महावीरसरन जैन

[स्नातकोत्तर हिन्दी व भाषा विज्ञान विभाग,
जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर (म० प्र०)]

इस विशाल पृथ्वी पर जब कोई लघु मानव सृष्टि विधान, जीवों की उत्पत्ति तथा उनके भाग्य का निर्माता आदि विषयों पर विचार करने के लिए उद्यत होता है तथा सृष्टि के विविध जीवों में सुख-दुःख की विषमताएँ पाता है तो जगत के निर्माता, पालक एवं संहारक किसी अदृश्य एवं परम शक्ति के रूप में ईश्वर की कल्पना करके, उसी को जीवों की उत्पत्ति एवं उनके भाग्य विधान का कारण मानकर सन्तोष कर लेता है। इसी भावना से अभिभूत हो वह इस प्रकार की विचारधारा अभिव्यक्त करता है कि जीवों का भाग्य ईश्वर के ही अधीन है, वही विश्व-नियंता है, वही उन्हें उत्पन्न करता है, संरक्षण देता है तथा उनके भाग्य का निर्धारण करता है। इन विषयों पर गहराई से विचार करने पर अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं।

क्या ईश्वर ही मनुष्य के भाग्य का निर्माता है? क्या वही उसका भाग्यविधाता है? यदि कोई मनुष्य सत्कर्म न करे तो भी क्या वह उसको अनुग्रह से अच्छा फल दे सकता है? मनुष्य के जितने कर्म हैं वे सबके सब क्या पूर्वनिर्धारित है? उसके इस जीवन के कर्मों का उसकी भावी नियति से क्या किसी प्रकार कोई सम्बन्ध नहीं है? मनुष्य ईश्वराधीन होकर ही क्या सब कर्म करता है या उसकी अपनी स्वतन्त्र कतृत्व शक्ति भी है जिसके कारण वह अपनी निजी चेतना शक्ति के कारण कर्मों के प्रवाह को बदल सकता है?

यदि ईश्वर ही भाग्य निर्माता होता तब तो वह मनुष्य को बिना कर्म के ही स्वेच्छा से फल प्रदान कर देता। यदि ईश्वर यह कार्य कर सकता होता तो मनुष्य के पुरुषार्थ, धर्म, आचरण, त्याग एवं तपस्यामूलक जीवन व्यवहार की सार्थकता ही समाप्त हो जाती। यदि जीव ईश्वराधीन ही होकर कर्म करता होता तो इस संसार में दुःख एवं पीड़ा का अभाव होता। हम देखते हैं कि इस संसार में मनुष्य अनेक कष्टों को भोगता है। यदि ईश्वर या परमात्मा को ही निर्माता, नियंता एवं भाग्य विधाता माना जावे तो इसके अर्थ होते हैं कि ईश्वर इतना पर-पीड़ाशील है कि वह ऐसे कर्म कराता है जिससे अधिकांश जीवों को दुःख प्राप्त होता है। निश्चय ही कोई भी व्यक्ति ईश्वर की पर-पीड़ाशील स्वरूप की कल्पना नहीं करना चाहेगा। इस स्थिति में जीव में कर्मों को करने की स्वातन्त्र्य शक्ति माननी पड़ती है।

यह जिज्ञासा शेष रह जाती है कि कर्मों को सम्पादित करने की शक्ति या पुरुषार्थ की स्वीकृति मानने के अनन्तर क्या परमात्मा कर्मों के फल का विभाजन एक न्यायाधीश के रूप में करता है अथवा कर्मानुसार फल-प्राप्ति होती है। दूसरे शब्दों में फलोद्भोग में परमात्मा का अवलम्बन अंगीकार करना आवश्यक है अथवा नहीं?

तार्किक दृष्टि से यदि विचार करें तो ईश्वर को नियामक एवं पाप-पुण्य का फल देने वाला मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। कारण-कार्य के सिद्धान्त के आधार पर विश्व की समस्त घटनाओं की तार्किक व्याख्या करना सम्भव है। यदि ऐसा न होता तो प्रकृति के नियमों की कोई भी वैज्ञानिक शोध सम्भव न हो पाती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह तर्क दिया जा सकता है कि इश्वर ने ही प्रकृति के नियमों की अवधारणा की है। इन्हीं के कारण जीव सासांरिक कार्य—प्रपंच करता है। इसका उत्तर यह है कि यदि ईश्वर के द्वारा ही प्रकृति के नियमों की अवधारणा हुई होती तो उसमें जागतिक कार्य—प्रपंचों में परिवर्तन करने की भी शक्ति होती। हम देख चुके हैं कि यह सत्य नहीं है। इसका कारण यह है कि यदि ऐसा होता तो परमकरुण ईश्वर के द्वारा निर्धारित संसार के जीवों के जीवन में किंचित् भी दुःख, अशान्ति, क्लेश नहीं होता। यदि हम ईश्वर की कल्पना प्रशान्त, परिपूर्ण, राग-द्वेषरहित, मोहविहीन, वीतरागी, आनन्दपरिपूर्ण रूप से करते हैं तो भी उसे फल में हस्तक्षेप करने वाला नहीं माना जा सकता। उस स्थिति में वह राग, द्वेष तथा मोह आदि दुर्बलताओं से पराभूत हो जावेगा। यदि जीव स्वेच्छानुसार एवं सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में स्वतन्त्र है, उसमें परमात्मा के सहयोग की कोई आवश्यकता नहीं है तथा वह अपने ही कर्मों का परिणाम भोगता है, फल प्रदाता भी दूसरा कोई नहीं है तो क्या उनकी उत्पत्ति एवं विनाश के हेतु रूप में किसी परम शक्ति की कल्पना करना आवश्यक है? इसी प्रकार क्या सृष्टि-विधान के लिए भी किसी परमशक्ति की कल्पना आवश्यक है? यदि नहीं तो फिर परमात्मा या ईश्वर की परिकल्पना की क्या सार्थकता है?

कर्तावादी सम्प्रदाय पदार्थ का तथा उसके परिणमन का कर्ता (उत्पत्तिकर्त्ता, पालनकर्त्ता तथा विनाशकर्त्ता) ईश्वर को मानते हैं। इस विचारधारा के दार्शनिकों ने ईश्वर की परिकल्पना सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की परम शक्ति के रूप में की है जो विश्व का कर्ता तथा नियामक है तथा समस्त प्राणियों के भाग्य का विधाता है। इसके विपरीत चार्वाक, निरीश्वर सांख्य, मीमांसक, बौद्ध एवं जैन इत्यादि दार्शनिक परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते हैं। वैशेषिक दर्शन भी मूलतः ईश्वरवादी नहीं है। भारतीय दर्शनों में नास्तिक दर्शन तो ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते, शेष षड्दर्शनों में प्राचीनतम दर्शन सांख्य हैं। इसका परवर्ती दार्शनिकों पर प्रभाव पड़ा है। इस दृष्टि से सांख्य दर्शन के ईश्वरवाद की मीमांसा आवश्यक है। सांख्य दर्शन में दो प्रमेय माने गये हैं (१) पुरुष, (२) प्रकृति।[1]

पुरुष चेतन है, साक्षी है, केवल है, मध्यस्थ है, द्रष्टा है और अकर्ता है। प्रकृति जड़ है, क्रियाशील है और महत् से लेकर धरणि पर्यन्त सम्पूर्ण तत्त्वों की जन्मदात्री है, त्रिगुणात्मिका है, सृष्टि की उत्पादिका है, अज एवं अनादि है तथा शाश्वत एवं अविनाशी है।[2] ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिकाओं में ईश्वर, परमात्मा, भगवान या परमेश्वर की कोई कल्पना नहीं की गयी है। कपिल द्वारा प्रणीत सांख्य सूत्रों में, ईश्वरासिद्धेः (ईश्वर की असिद्धि होने से) सूत्र उपस्थापित करके ईश्वर के विषय में अनेक तर्कों को प्रस्तुत किया गया है। यहाँ प्रमुख तर्कों की मीमांसा की जावेगी।

१. कुसुमवच्चमणि[3]

सूत्र के आधार पर स्थापना की गयी है कि जिस प्रकार शुद्ध स्फटिकमणि में लाल फूल का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार असंग, निर्विकार, अकर्ता पुरुष के सम्पर्क में प्रकृति के साथ-साथ रहने से उसमें उस अकर्ता पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इससे जीवात्माओं के अदृष्ट कर्म संस्कार फलोन्मुखी हो जाते हैं तथा सृष्टि प्रवृत्त होती है। यह स्थापना ठीक नहीं है। इसके अनुसार चेतन जीवात्माओं को पहले प्रकृति में लीन रहने की कल्पना करनी पड़ेगी तथा उन्हें प्रकृति से उत्पन्न मानने पर जड़ को चेतन का कारण मानना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त यदि अदृष्ट कर्म संस्कार फल प्रदान करते हैं तो फिर परमात्मा के सहकार की क्या आवश्यकता है?

२. अकार्यत्वेपितद्योगः पारवश्यात्[4]

सूत्र के आधार पर स्थापना की गई है कि प्रकृति कारण रूप है, कार्य नहीं है। अनन्त, विभु जीवात्मा पुरुषों

१. सांख्य तत्व कौमुदी, कारिका १८, १९.
२. वही, कारिका, ११, १२, १४.
३. सांख्य सूत्र ३५, प्रकाश २।
४. सांख्य सूत्र ५५, प्रकाश ३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अदृष्ट कर्म संस्कार सहित सर्व संस्कार प्रकृति में लीन रहता है। चूंकि प्रकृति जड़ है अतएव सृष्टि के लिए उसमें पुरुष के योग की आवश्यकता होती है, यह तर्क भी संगत नहीं है। हाइड्रोजन के दो एवं आक्सीजन के एक परमाणु के संयोग से जल बन जाता है। इसमें परमात्मा के सहकार की अनिवार्यता दृष्टिगत नहीं होती। यदि सर्व चेतन पुरुषों का सर्वातीत पुरुषोत्तम में लीन होकर सृष्टि के समय उत्पन्न होना माना जाये तो बीजांकुर न्याय से सर्वातीत पुरुषोत्तम सहित समस्त जीवात्माओं की उत्पति नाश की दोषापत्ति करती है।

३. एक स्थापना यह है कि परमात्मा सर्ववित् एवं सर्वकर्ता है और वह प्रकृति से **अयस्कान्वत्** (चुम्बक सदृश्य) सृष्टि करता है। वह प्रेरक मात्र है। यदि इस स्थापना को माना जाये तो परमात्मा को असंग, निर्गुण, निर्लिप्त, निरीह कैसे माना जा सकता है ?[1]

जिस प्रकार सेना की जय एवं पराजय का आरोप राजा पर किया जाता है उसी प्रकार प्रकृति के क्रिया-कलापों का मिथ्या आरोप परमात्मा पर किया जाता है। तत्त्वतः परमात्मा कर्त्ता नहीं है प्रकृति ही दर्पणवत् उसके प्रतिबिम्ब को प्राप्त करके सृष्टि विधान में प्रवृत्त होती है।[2]

सृष्टि विधान में प्रकृति की प्रवृत्ति तर्कसंगत है किन्तु पुरुषाध्यास की सिद्धि के लिए पुरुष प्रतिबिम्ब की कल्पना व्यर्थ प्रतीत होती है। अलिप्त कर्त्ता की शक्ति से मायारूप प्रकृति का शक्तिमान बनकर जगत की सृष्टि करना संगत नहीं है। युद्ध में राजा सेना सहित स्वयं लड़ता है अथवा युद्ध एवं विजय के लिए समस्त उद्यम करता है। इस स्थिति में राजा को अकर्त्ता नहीं कहा जा सकता। चेतन, सूक्ष्म, निर्विकल्प, निर्विकार, निराकार का अचेतन, स्थूल, आशाविकल्पों से व्याप्त, सविकार एवं साकार प्रकृति जैसी पूर्ण विपरीत प्रकृति का संयोग सम्भव नहीं है। जीवात्मा का प्रकृति से सम्बन्ध बन्धन के कारण है किन्तु क्या परमात्मा जैसी परिकल्पना को भी बन्धनग्रस्त माना जा सकता है जिससे उसका अशान्त एवं जड़ स्वभावी प्रकृति से सम्बन्ध किया जा सके।

निष्काम परमात्मा में सृष्टि की इच्छा क्यों ? पूर्ण से अपूर्ण की उत्पत्ति कैसी ? आनन्द स्वरूप में निरानन्द की सृष्टि कैसी ? जिसकी सभी इच्छायें पूर्ण हैं, जो आप्तकाम है उसमें सृष्टि-रचना की इच्छा कैसी ?

इस प्रकार ईश्वरोपपादित सृष्टि की अनुप्रसन्नता सिद्ध होती है।

कर्त्तावादी दार्शनिक ने विश्व स्रष्टा की परिकल्पना इस सादृश्य पर की है कि जिस प्रकार कुम्हार घड़ा बनाता है उसी प्रकार ईश्वर संसार का निर्माण करता है। बिना बनाने वाले के घड़ा नहीं बन सकता। सम्पूर्ण विश्व का भी इसी प्रकार किसी ने निर्माण किया है। यह सादृश्य ठीक नहीं है। यदि हम इस तर्क के आधार पर चलते हैं, कि प्रत्येक वस्तु, पदार्थ या द्रव्य का कोई न कोई निर्माता होना जरूरी है तो फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि इस जगत के निर्माता परमात्मा का भी कोई निर्माता होगा और इस प्रकार यह चक्र चलता जायेगा। अन्ततः इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। कुम्हार भी घड़े को स्वयं नहीं बनाता। वह मिट्टी आदि पदार्थों को सम्मिलित कर उन्हें एक विशेष रूप प्रदान कर देता है। यदि ब्रह्म से सृष्टि विधान इस आधार पर माना जाता है कि ब्रह्म अपने में से जगत के आकार बनकर आप ही क्रीड़ा करता है तब पृथ्वी आदि जड़ के अनुरूप ब्रह्म को भी जड़ मानना पड़ेगा अथवा ब्रह्म को चेतन मानने पर पृथ्वी आदि को चेतन मानना पड़ेगा।

यदि ब्रह्म ने सृष्टि विधान किया है तो इसका अर्थ यह है कि सृष्टि विधान के पूर्व केवल ब्रह्म का अस्तित्व मानना पड़ेगा। इसी आधार पर शून्यवादी कहते हैं कि सृष्टि के पूर्व शून्य था, अन्त में शून्य होगा, वर्तमान पदार्थ का अभाव होकर शून्य हो जावेगा तथा शंकर वेदांती ब्रह्म को विश्व के जन्म, स्थिति और संहार का कारण मानते

---

१. सांख्य सूत्र, ५६, ५७, प्रकाश ३।

२. वही, ५८, प्रकाश ३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए भी[1] जगत को स्वप्न एवं मायारचित नगर के समान पूर्णतया मिथ्या एवं असत्य मानते हैं।[2] क्या सृष्टि विधान का कारण परमात्मा ही है ? क्या सृष्टि की आदि में जगत न था, केवल ब्रह्म था तथा इसका अस्तित्व क्या शून्य हो जावेगा ? आदि के सम्बन्ध में विचार करते समय प्रश्न उपस्थित होते हैं कि सृष्टि की सत्ता सत्य है या मिथ्या है, नित्य है या अनित्य है ? जड़ है या चेतन है ? यदि परमात्मा से सृष्टि विधान माना जाता है तो परमात्मा की चेतन रूप परिकल्पना के अनुसार पृथ्वी आदि को भी चेतन मानना पड़ेगा अथवा पृथ्वी आदि के अनुरूप परम त्मा को जड़ मानना पड़ेगा। सत्य स्वरूप ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति मानने पर ब्रह्म का कार्य असत्य कैसे हो सकता है ? यदि जगत की सत्ता सत्य है तो उसका अभाव कैसा ? जगत को स्वप्न एवं मायारचित गन्धर्वनगर के समान पूर्णतया मिथ्या एवं असत्य मानना क्या संगत है ?

क्या जगत को माया के विवर्तरूप में स्वीकार कर रज्जु में सर्प अथवा सीप में रजत की भाँति कल्पित माना जा सकता है ? कल्पना गुण है। गुण तथा द्रव्य की पृथकता नहीं हो सकती। स्वप्न बिना देखे या सुने नहीं आता। सत्य पदार्थों के साक्षात् सम्बन्ध से वासनारूप ज्ञान आत्मा में स्थित होता है। स्वप्न में उन्हीं का प्रत्यक्षण होता है। स्वप्न और सुषुप्ति में बाह्य पदार्थों का अज्ञान मात्र होता है, अभाव नहीं। इस कारण जगत को अनित्य भी नहीं माना जा सकता। जब कल्पना का कर्त्ता नित्य है तो उसकी कल्पना भी नित्य होनी चाहिए अन्यथा वह भी अनित्य हुआ। जैसे सुषुप्ति में बाह्य पदार्थों के ज्ञान के अभाव में भी बाह्य पदार्थ विद्यमान रहते हैं वैसे ही प्रलय में भी जगत के बाह्य रूप के ज्ञान के अभाव में भी द्रव्य वर्तमान रहते हैं। कोयला को जितना चाहे जलावे, वह राख बन जाता है, उसका बाह्य रूप नष्ट हो जाता है किन्तु कोयला में जो द्रव्य तत्त्व है वह सर्वथा नष्ट कभी नहीं हो सकता।

विश्व जिन जीवों (चेतनाओं) एवं पुद्गल (पदार्थों) का समुच्चय है वे तत्त्वतः अविनाशी एवं आन्तरिक है। इस कारण जगत को मिथ्या स्वप्नवत् एवं शून्य नहीं माना जा सकता। किसी भी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। किसी भी प्रयोग से नये जीव अथवा नए परमाणु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। पदार्थ में अपनी अवस्थाओं का रूपान्तर होता है। इस प्रकार इस ब्रह्माण्ड के प्रत्येक मूल तत्त्व की अपनी मूल प्रकृति है। कार्य-कारण के नियम के आधार पर प्रत्येक मूल तत्त्व अपने गुणानुसार बाह्य स्थितियों में प्रतिक्रियाएँ करता है। इस कारण जगत मिथ्या नहीं है। संसार के पदार्थ अविनाशी हैं इस कारण विश्व को स्वप्नवत् नहीं माना जा सकता। ब्रह्माण्ड के उपादान या तत्त्व अनन्त, आन्तरिक एवं अविनाशी होने के कारण अनिर्मित है। शून्य से किसी वस्तु का निर्माण नहीं होता। शून्य से जगत मानने पर जगत का अस्तित्व स्थापित नहीं किया जा सकता। जो वस्तु है उसका अभाव कभी नहीं है। इस प्रकार जगत सत्य है तथा उसका शून्य से सद्भाव सम्भव नहीं है। इस प्रकार जगत को अनादि-अनन्त मानना तर्कसंगत है। विज्ञान का भी यह सिद्धान्त है कि पदार्थ अविनाशी है। वह ऐसे तत्त्वों का समाहार है जिनका एक निश्चित सीमा के आगे विश्लेषण नहीं किया जा सकता। अब प्रश्न शेष रह जाता है कि क्या परमात्मा या ईश्वर को समस्त जीवों के अंशी रूप से स्वीकार कर जीवों को परमात्मा के अंश रूप में स्वीकार किया जा सकता है ?

आत्मावादी दार्शनिक आत्मा को अविनाशी मानते हैं। श्रीमद्भगवत्गीता में भी इसी प्रकार की विचारणा का प्रतिपादन हुआ है। यह जीवात्मा न कभी उत्पन्न होता है, न कभी मरता है, न कभी उत्पन्न होकर अभाव को प्राप्त होता है, अपितु यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है, और शरीर का नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता। इस जीवात्मा को अविनाशी नित्य, अज और अव्यय समझना चाहिए। जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्रों का त्याग करके नवीन वस्त्रों को धारण कर लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा पुराने शरीरों को छोड़कर नवीन शरीरों को ग्रहण करता रहता है। इसे न तो शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल भिगो सकता है और न वायु सुखा सकती

१. तैत्तिरीयोपनिषद ३।१, ३।६ और ब्रह्मसूत्र १।१।२ पर शांकर भाष्य।

२. (क) ब्रह्मसूत्र २।१।१४, २।२।२९ (ख) विवेक चूड़ामणि १४०, १४२ (ग) वेदांतसार, पृ० ८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। यह अच्छेद्य, अदाह्य एवं अशोष्य होने के कारण नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल एवं सनातन है।[1] 'इस दृष्टि से किसी को आत्मा का कर्त्ता स्वीकार नहीं कर सकते। यदि आत्मा अविनाशी है तो उसके निर्माण या उत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है कि यह सम्भव नहीं कि कोई वस्तु निर्मित हो किन्तु उसका विनाश न हो। इस कारण जीव ही कर्त्ता तथा भोक्ता है। कर्मानुसार अनेक रूप धारण करता रहता है।[2]

जैन दर्शन की भाँति चार्वाक, निरीश्वर सांख्य, मीमांसक एवं बौद्ध इत्यादि भी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। न्याय एव वैशेषिक दर्शन मूलतः ईश्वरवादी प्रतीत नहीं होते। वैशेषिक सूत्रों में ईश्वर का कहीं उल्लेख नहीं है। न्याय सूत्रों में कथंचित् है। इन दर्शनों में परमाणु को ही सबसे सूक्ष्म और नित्य प्राकृतिक मूल तत्त्व माना गया है।[3] सृष्टि की उत्पत्ति परमाणुवाद सिद्धान्त के आधार पर मानी गयी है। दो परमाणुओं के योग से द्वयणुक, तीन द्वयणुकों के योग से त्र्यणुक, चार त्र्यणुकों से चतुरणुक और चतुरणुकों के योग से अन्य स्थूल पदार्थों की सृष्टि मानी गयी है।[4] जीवात्मा को अणु, चेतन, विभु तथा नित्य आदि कहा गया है।[5] इस प्रकार वैशैषिक दर्शन में परमाणु को मूल तत्त्व मानने के कारण ईश्वर या परमात्मा शक्ति को स्वीकार नहीं किया गया। न्याय में सूत्रकाल में ईश्वरवाद अत्यन्त क्षीणप्राय था। भाष्यकारों ने ही ईश्वरवाद की स्थापना पर विशेष बल दिया। आत्मा को ही दो भागों में विभाजित कर दिया गया, जीवात्मा एवं परमात्मा।

ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः जीवात्मा परमात्मा चेति। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव सुख दुःखादि रहितः जीवात्मा प्रति शरीरं भिन्नोविभुर्नित्यश्च।[6]

इस दृष्टि से आत्मा ही केन्द्र बिन्दु है जिस पर आगे चलकर परमात्मा का भव्य प्रासाद निर्मित किया गया।

आत्मा को ही ब्रह्म रूप में स्वीकार करने की विचारधारा वैदिक एवं उपनिषद् युग में भी थी। 'प्रज्ञाने ब्रह्म,' 'अहं ब्रह्मास्मि,' 'तत्त्वमसि,' 'अयमात्मा ब्रह्म' जैसे सूत्र वाक्य इसके प्रमाण हैं। ब्रह्म प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप है। यही लक्षण आत्मा का है। मैं ब्रह्म हूँ, तू ब्रह्म ही है, मेरी आत्मा ही ब्रह्म है, आदि वाक्यों में आत्मा एवं ब्रह्म पर्याय रूप में प्रयुक्त है। पतंजलि ने ईश्वर पर बल न देते हुए आत्मस्वरूप में अवस्थान को ही परम लक्ष्य, योग या कवल्य माना है।

जैन दर्शन भी पुरुष विशेष (ईश्वर) में विश्वास नहीं करता। प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा बनने की शक्ति का उद्घोष करता है। द्रव्य की दृष्टि से आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का अन्तर अवस्थागत अर्थात् पर्यायगत है। जीवात्मा शरीर एवं कर्मों की उपाधि से युक्त होकर संसारी हो जाता है। मुक्तजीव त्रिकाल शुद्ध नित्य निरंजन परमात्मा है। जिस प्रकार यह आत्मा राग-द्वेष द्वारा कर्मों का उपार्जन करती है और समय पर उन कर्मों का विपाक फल भोगती है, उसी प्रकार यह आत्मा सर्वकर्मों का नाश कर सिद्ध लोक में सिद्ध पद को प्राप्त करती है।[7]

---

१. गीता २।२०-२४ एवं २।५१ पर शांकर भाष्य।
२. (क) ब्रह्मसूत्र २।३।३३-३९ (ख) श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४।६। (ग) ईशोपनिषद् ३।
३. तर्कभाषा, पृ० १०८।
४. वही, पृ० १८१
५. वही, पृ० १५२-१५३.
६. तर्क संग्रह, खण्ड एक।
७. जहा रागेण कडाणं कम्माणं, पावगो फलविवागो।
जह य परिहीणकम्मा, सिद्ध सिद्धालयमुवेंति ॥—औपपातिक सूत्र, ३५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा देव-देवालय में नहीं है, पाषाण की प्रतिमा में भी नहीं है, लेप तथा मूर्ति में भी नहीं है। वह देव अक्षय अविनाशी है, कर्म फल से रहित है, ज्ञान से पूर्ण है, समभाव में स्थित है।[1]

जैसा कर्मरहित, केवलज्ञानादि से युक्त प्रकट कार्य समयसार सिद्ध परमात्मा परम आराध्य देव मुक्ति में रहता है वैसा ही सब लक्षणों से युक्त शक्ति रूप कारण परमात्मा इस देह में रहता है। तू सिद्ध भगवान् और अपने में भेद मत कर।[2]

हे पुरुष ! तू अपने आप का निग्रह कर, स्वयं के निग्रह से ही तू समस्त दुःखों से मुक्त हो जायेगा।[3]

हे जीव ! देह का जरा-मरण देखकर भय मत कर। जो अजर अमर परम ब्रह्म है उसे ही अपना मान।[4]

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव का लक्ष्य परब्रह्मत्व अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करना है। जो परमात्मा है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है। इस प्रकार मैं ही स्वयं अपना उपास्य हूँ। अन्य कोई मेरा उपास्य नहीं है।[5]

जो व्यवहारदृष्टि से देह रूपी देवालय में निवास करता है और परमार्थतः देह से भिन्न है वह मेरा उपास्यदेव अनादि अनन्त है। वह केवलज्ञान स्वभावी है। निःसंदेह वही अचलित स्वरूप कारण परमात्मा है।[6]

कारण-परमात्मास्वरूप इस परमतत्त्व की उपासना करने से यह कर्मोपाधियुक्त जीवात्मा ही परमात्मा हो जाता है जिस प्रकार बांस का वृक्ष अपने को अपने से रगड़ कर स्वयं अग्नि रूप हो जाता है।[7]

उस परमात्मा को जब केवलज्ञान उत्पन्न होता है, योग निरोध के द्वारा समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं, जब वह लोक शिखर पर सिद्धालय में जा बसता है तब उसमें ही वह कारण-परमात्मा व्यक्त हो जाता है।[8]

जैन दर्शन की सृष्टि व्यवस्था के सम्बन्ध में ईश्वर की कर्तृत्व शक्ति का निषेध तथा सर्वव्यापक एक परमात्मा के स्थान पर प्रत्येक जीव का मुक्त हो जाने पर कार्य-परमात्मा बन जाने सम्बन्धी विचारधारा का प्रभाव परवर्ती दार्शनिक सम्प्रदायों पर पड़ा है। वस्तुतः स्वभाव एवं कर्म इन दो शक्तियों के अतिरिक्त शरीर, इन्द्रिय एवं जगत के कारण रूप में ईश्वर नामक किसी अन्य सत्ता की कल्पना व्यर्थ है।[9] □

---

१. देउ ण देवले णवि सिलए णवि लिप्पई णवि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिय समचित्ति ॥—परमात्मप्रकाश, १२३.

२. णेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देह हं मं करि भेउ ॥—परमात्मप्रकाश, २६.

३. पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ,
एवं दुक्खा पमोक्खसि।—आचारागं ३।३।११६.

४. देह हो पिक्खवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि।
जो अजरामरु बंभु परुसो आपाण मुरोहि ॥—पाहुड दोहा १।३३. (मुनि रामसिंह)

५. यः परमात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥—समाधिशतक, ३१ (पूज्यपाद)

६. देह देवलि जो वसई देउ अणाइ अणंतु।
केवलणाणफुरंततणु, सो परमप्पु णिभंतु ॥—परमात्मप्रकाश १।३३ (योगीन्दु देव)

७. उपास्यमानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेग्निर्यथा तरुः ॥—समाधिशतक (पूज्यपाद)

८. ज्ञानं केवलसंज्ञं योगनिरोधः समग्रकर्महृतिः।
सिद्धिनिवासश्च यदा, परमात्मा स्यात्तदा व्यक्तः ॥—अध्यात्म सार २०।२४ (उपाध्याय यशोविजय)

९. तदनुकरण भुवनादौ निमित्त कारणत्वादीश्वरस्य न चैतद् सिद्ध्यः।—आप्त परीक्षा १।५१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org